प्रभु-पूजा

या

बच्चों का खेल

लेखक—

ताराचन्द जैन शास्त्री

बन्दे श्रीगुरुतारणम ॥

प्रभु-पूजा

या

बच्चों का खेल

लेखक-प्रकाशक

ताराचन्द जैन शास्त्री

प्रकाशन-स्थान

गंजबासोदा (ग्वालियर)

प्रथम बार १००० | श्रीतारण सं० ४२५ | मूल्य मिथ्यात्व त्याग

प्रस्तावना

वासोदा (ग्वालियर) में दि० जै० मूर्ति-पूजक गुलाबचन्द जी ने तारण समाजी सिंघई अमृतलाल से " दि० जैन मूर्ति-पूजा अनावश्यक है " पर वादविवाद कर शास्त्रार्थका रूप बनाया पं० राजेन्द्रकुमार जी ने सिखा पढा कर सार्वजनिक धर्मसंकट वासोदा परवार समाज से मनवाना चाहा, पर यह तो कर्म संकट है, धर्म-संकट नहीं। मूल वस्तु (वस्तुस्वरूप) का पता लगाना और अपनी पूञ्जी सम्हालना हर एक मानव का कर्तव्य है, खोजो सम्हालो। पर विद्वान बनने वाले सम्पादकीय जिम्मेवारी के पदपर आरूढ़ व्यक्ति ही जब बचपन बतावें तो विद्वत्ता कैसी? जब अनादि काल से मूर्ति–पूजा करते भी २००० वर्ष के श्रद्धान में वा सेवा में विश्वास नहीं तो

बुढ़ापे के आने का समय कब होगा क्या अभी भी सागरों की आयु की कल्पना करने की हविश बाकी है ? क्या हर्ज है कल्पना घर की चीज है और कार्य भी घर का। पं० कैलाशचंद्र शास्त्री भी जो मानसरोवर के वासी राजहंसों में बसते हैं शायद लोक लज्जा वश बक-पंक्ति में धोखे से गिने जावें तो गिनने वाले को धोखा होगा, ऐसा मैं मानता हूं। पर आगे उनकी आत्मा और उनकी शक्ति का पुरुषार्थ मोक्ष हो या यहीं पड़े रहें; पर स्वयं आलसी बन अपनी छाती का गूलर दूसरे से खिलाने को न कहें। यही इस पुस्तक का सार है। उस आत्मदेव को सलाह देते हैं कि वह अपने कदाग्रह को छोड़ सत्पुरुषार्थ प्राप्त कर साक्षात जिनबिंब बन जावें तो उनकी पूजा-सिद्धि हो जाय; कारण उन्हें पूजा कराना अभीष्ट है।

हुकुमचन्द जैन

* बन्दे श्रीगुरुतारणम् *

प्रभु-पूजा

—या—

बच्चों का खेल

जैन संदेश अंक २६ भाग ४ ता० २४-१०-४० में सम्पादकीय लेख में विज्ञ सम्पादक जी ने "तारण समाज और मूर्ति-पूजा" शीर्षक लेख प्रकाशित किया है जिसमें लेखक महोदय ने अपने सुन्दर शब्दों में बालकों के खेल से प्रभु पूजा की तुलना की है, और बच्चों के खेल को प्रभु पूजा न समझने वाली तारण समाज का हृदय खोलकर बुरे भले शब्दों से सत्कार किया है। धन्य है आप की। पूजा और समझ को पाठकों के समक्ष लेख में प्रकाशित प्रकरणों का हवाला देते हुवे कुछ विचार करते हैं।

आपने देव-पूजा को शुभोपयोगी शास्त्रों में बतलाया है जो कि ठीक है किन्तु हम पूछते हैं कि व्याकरण से अथवा शास्त्रों से देव की जरा व्याख्या और लक्षण तो कह दीजिये, तो फौरन ही उत्तर मिलेगा कि " देव वही है जिसमें सर्वज्ञता वीतरागता और हितोपदेशिता हो " जब इन गुणों का धारक ही देव कहा जाता है और इन में से एक भी गुण न होने से देव नहीं हो सकता, क्या मूर्ति में यह तीनों गुण हैं, यदि एक गुण भी नहीं है तो फिर 'मूर्ति' देव कैसे मानी जा सकती है ?

देव तो ४६ गुणों से युक्त, १८ दोषों से रहित होते हैं, क्या मूर्तियां भी ४६ गुण-युक्त और १८ दोष रहित होती हैं ? यदि नहीं होतीं तो कौन बुद्धिमान शास्त्री या व्याकरणाचार्य मूर्ति को देव कह सकता है, और यदि कहता है तो उसकी बुद्धिमानी का पता लग सकता है।

संपादक जी देवपूजा का शुभोपयोगी होना बताकर चटसे मूर्ति की तरफ दौड़ पड़े हैं, दे तो रहे हैं देव का

हवाला और दौड़ पड़े मूर्ति की ओर। इसी से आपके बुद्धि के विकाश, इतिहास और शास्त्रों में कितना दखल है पता लग जाता है। श्रीमत् कुन्दकुन्दआचार्य ने तो स्पष्ट शब्दों में जड़ पूजा का खंडन किया है जो कि आगे लिखते हैं।

आपने तारण स्वामी कृत ग्रन्थों के संबंध में उनकी निन्दा करते हुवे लिखा है " क्षुल्लक जी उन्हें वेदान्त की पवित्रधारा बतला कर अजैनों को उनका रस-पान करने के लिये आमंत्रित करते हैं। किन्तु हमें भय है कि वेदान्त के रस-पान के इच्छुक किसी विद्वान को यदि उस धारा का आचमन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो वह कैसे विचार लेकर लौटेगा ? "

यदि क्षुल्लक जी वेदान्त का रसपान दूसरों को कराना चाहते हैं तो क्या बुरा करते हैं और यदि वेदान्त के इच्छुक किसी विद्वान को उनके वेदान्त का 'आचमन करने का सौभाग्य प्राप्त होता है और उसके विचारों पर असर पड़ता है तो यह बात आपको क्यों खटकती है,

क्या इसी लिये आप भयभीत हैं, कि कहीं वे विद्वान वेदान्त मानकर आपकी जड़ पूजा का खंडन न करने लग जांय। यदि ऐसा भय आपको है तो उन सभी वेदान्त-वादियों को अपनी जड़पूजा का अस्तित्व सिद्ध कर क्यों नहीं समझा लेते कि छोड़िये इस वेदान्तवाद के ढोंग को और कीजिये यह मोक्ष देने वाली जड़-पूजा।

महाशय जी मात्र भय खाने से काम नहीं चलता, काम तो साहस पूर्वक आगे बढ़ने से होता है। वस्तु में यदि सत्यता है और कार्य करने की आपमें क्षमता है तो भय नहीं खाइये। देखिये धर्म दिवाकर जैनधर्म भूषण ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने भी ग्रन्थों का रसपान कर डाला है वे इन शब्दों में रसपान का दिग्दर्शन पाठकों को कराते हैं—

१- ममलपाहुड भाग १—तारण स्वामी जी ने अगहन सुदी ७ सं० १५०५ में पुष्पावती में जन्म लिया गढासाह जी परवार जाति के सेठ थे टोंक राज्य के सेमर खेड़ी व ग्वालियर राज्य के मल्हारगढ़ में

विशेष ध्यान व सामायिक करते थे मल्हारगढ़ में १५७२ जेठ सुदी ६ को समाधि-मरण किया... यह दिगंबर जैन आम्नाय के अनुसार मुख्यता से जैन ग्रन्थों के ज्ञाता थे अध्यात्म की गाढ़ रूचि रखते थे इनकी रचनाओं में पद २ पर आत्मा पर लक्ष्य दिलाया गया है इनकी रचना आध्यात्मिक होने से पुनरुक्तियें बहुत हैं तथापि उनका होना आध्यात्मिक ग्रन्थ में अनिवार्य है।

२- ममल पाहुड भाग २-इस ग्रन्थ में अध्यात्म रस के पीने वालों को अमृतमई फलों के समान बड़े २ उत्तम भजन हैं जिनमें शुद्धात्मा के गुणों का निश्चय नय की प्रधानता से वर्णन किया गया है, इस ग्रन्थ को ध्यान-पूर्वक शांति से स्वाध्याय करने से बड़ा ही आत्मानंद प्रगट होगा। भव्य जीवों के हितार्थ यह काम किया गया है सर्व भव्य जीव इस ममल पाहुड को मनन करके अपना सच्चा हित करें।

३– त्रिभंगी सार–इस में तारण स्वामी ने जीवों के कल्याण के हेतु बहुत उपयोगी कथन किया है कर्मबंध के कारण सूक्ष्म भावों को इतनी उत्तम रीति से बताया है। जो उन पर मनन करेगा वह आस्रव के कारण भावों से बचने का उपाय करेगा। तारण स्वामी ने प्राचीन जैन सिद्धान्त के अनुकूल ही सर्व कथन किया है इसका हिन्दी में भाव लिखते हुवे बहुत ही आनंद का लाभ हुआ, हम ग्रन्थकर्ता की भूरि २ प्रशंसा करते हैं स्वामी जी अपने समय के जैन सिद्धान्त के आध्यात्मिक विद्वान व त्यागी थे।

४– ज्ञान समुच्चयसार–मैं जितना २ ग्रंथ का उल्था करते हुये आगे बढ़ता जाता था। उतना २ मेरा प्रेम ग्रंथ-कर्त्ता से बढ़ता जाता था श्री जिन तारण तरण स्वामी के गुणों में अनुराग ने ही मेरे भावों में ऐसी शक्ति उत्पन्न की जिससे मैं उक्त स्वामी के भाव को समझ कर भाषा में भावार्थ लिख सका।

इसमें मेरा कोई कृत्य नहीं है यह परम विद्वान उक्त स्वामी जी का प्रताप है।

५– उपदेशशुद्धसार–जितना २ मैं अधिक २ विचार करता जाता था उतना २ मुझे इस बात का विश्वास होता जाता था कि तारण स्वामी जैन सिद्धान्त के मर्मी थे जैन शास्त्रों को व्यवहार तथा निश्चय नय से जानने वाले थे अध्यात्म के पूर्ण विशारद थे सूक्ष्म भावों के पहचानने वाले सदाचारी व पूर्व जिनवाणी परंपरा के सच्चे भक्त थे जिन–वाणी अनुसार लिखना अपना धर्म समझते थे आत्म-ध्यान व समता रस के अच्छे अभ्यासी थे उनके आत्मिक गुणों में मेरी भक्ति इतनी हो गई है कि मैं मन वचन काय से उनकी परोक्ष–वंदना करता हूं। इत्यादि २।

किन्तु पंडित कैलाशचंद जी साहब फरमाते हैं कि "तारण स्वामी के अवतार क्षुल्लक जी महाराज, अपने गुरू महाराज की उस अलौकिक वाणी का काया-कल्प

कराने का प्रबंध कर रहे हैं, ऐसा करने से दुनिया के एक समाज–संस्थापक की अलौकिकता नष्ट करके लौकिकता लाने की चेष्टा करना कहां तक उचित है"।

यह बात ठीक है कि मनुष्य की ज़बान पर लगाम नहीं लगाई जाती और इसी लिये शायद सम्पादक जी बे शिर पैर की हांक रहे हैं चुल्लक जी गुरु महाराज की अलौकिक वाणी का यदि प्रचार कर रहे हैं तो क्या यह उसका कायाकल्प होना है, यदि कायाकल्प है तो भी कायाकल्प से कभी अलौकिकता तो नष्ट नहीं हो सकती प्रत्युत बढ़ती ही है, यदि यह उन्नति आपसे नहीं देखी जा सकती, तो आप भी अपने सिद्धान्तों का कायाकल्प कर डालिये तो आपकी वे बातें भी उज्वल हो कर संसार के सामने आ सकेंगी और फिर उन में किसी को किसी प्रकार आलोचना करने की ताकत न रह जावेगी।

मित्रवर किसी को उन्नति की ओर जाते देख कर जलने से उन्नति नहीं होती, बल्कि उन्नति तो अपनी कमजोरियां देख कर उन्हें दूर करने से होती है, आगे

आप अपनी लेखनी द्वारा लिखे, कितने विचारणीय वाक्य प्रगट कर रहे हैं।

" तारण भाइयों के कहने के अनुसार तारणस्वामी के पूर्व भव के जीव कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थों को हमने बहुत उल्टा पल्टा, तो हमारी निगाह बोध पाहुड के कुछ प्रकरणों पर पड़ी, बोध पाहुड में ग्यारह स्थान गिना कर प्रत्येक स्थान का स्वरूप बतलाया है। उन स्थानों में " जिनप्रतिमा और जिनबिंब नाम के भी स्थान हैं। जिन प्रतिमा का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है :—

१- सपरा जंगमदेहा, दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथवीयराया, जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥१०॥
(बोधपाहुड)

जिसका आपने अर्थ किया है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से शुद्ध चारित्र के धारक तपस्वियों की आत्मा से भिन्न निर्ग्रंथ और वीतराग जंगम देह है, ऐसी जिन-मार्ग में प्रतिमा होती है।

२- जिणबिंबं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च।

जं देइ दिक्खसिक्खा, कम्मक्खयकारणे सुद्धा ।२६।

(बोधपाहुड)

अर्थ-ज्ञानमय संयम से शुद्ध वीतराग जिनबिंब होती है जो कर्म-क्षय का कारण, शुद्ध दीक्षा और शिक्षा देती है।

प्रथम तो तारण भाइयों के कहने के अनुसार आपने श्रीमद्भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों को उल्टा पल्टा और फिर भी आपकी निगाह बोध पाहुड़ पर पड़ी जिस में उक्त वर्णन है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसके पहिले आपने कभी कुन्दकुन्दआचार्य कृत ग्रन्थ नहीं देखे थे और अब देखे तो भी अधूरे। मात्र बोध-पाहुड पर आपकी दृष्टि पड़ी तो वहीं आप को उपरोक्त दो सार-गर्भित बातें **जिन-बिंब** और **जिन-प्रतिमा** का यथार्थ स्वरूप मिल गया और यदि आप सारे ग्रन्थ का नियमित अध्ययन करते जाते तो आप को अपने इसी लेख में यह लिखने का कष्ट न करना पड़ता कि " मूर्ति-पूजा करने से मिथ्यात्व का बंध होने का उल्लेख उन्होंने भी नहीं किया है "।

दिन भर का भूला हुआ यदि शाम को ठिकाने पर आ जाता है तो वह भूला हुआ नहीं कहाता, ठीक इसी प्रकार हमारे सम्पादक बन्धु ने भी एक भारी समय की भूल के बाद उक्त आचार्य की दो गाथाओं को पढ़ कर कम से कम इतना तो लिखने का साहस कर लिया है कि-

" उक्त दोनों गाथाओं में भगवान कुन्दकुन्दआचार्य ने मुनि के शरीर में जिन प्रतिमा और आचार्य वगैरह को जिनबिंब बतलाया है। जो जिनमार्ग के पथिक बन गये हैं, जिन्होंने जिनरूप धारण कर लिया है। सचमुच में सच्ची जिन प्रतिमा और सच्चे जिनबिंब तो वे ही हैं। क्योंकि वे जिनरूप के धारक हैं तथा ऐसे जिनरूप धारकों के लिये तो अन्य जिनरूप धारी तथा आचार्य ही जिनबिंब और जिनप्रतिमा हैं "।

इस बात को संपादक जी कंपित हाथों से लिखते तो लिख गये पर पीछे ख्याल किया होगा कि यह मैं क्या कर गया ? हमारी समाज जिसका कि आज कल अधिकांश पंडित लोग नमक खा रहे हैं क्या कहेगी

" कि इसी लिये हम तुम्हें इतनी लंबी चौड़ी तनख्वाहें दे रहे हैं, कि समय आने पर हमारे काम न आओ प्रत्युत हमारे माने हुये कल्पित सिद्धान्तों का ही खंडन करने लग जाओ " सोच कर नीचे लिखे वाक्यों को लिखने के लिये मजबूर होना पड़ा " किन्तु जो अभी इतने ऊंचे नहीं चढ़े हैं तथा जिन्हें साक्षात जिनरूपके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सकता वे जिनरूपकी आराधना करना चाहें तो कैसे करें? यदि कहा जावे कि मन में जिन रूप की आकृति की कल्पना करके उसकी आराधना करें तो बाह्य काल्पनिक जिनबिम्ब जिनमूर्ति की अराधना करनेमें क्या पाप है? "

यहां तो संपादक जी की बुद्धि ने गजब का कमाल कर दिखाया है, बगुला से राजहंस और कांच से कंचन का काम कर दिखाना चाहते हैं। आराधना तो गुणों की, की जाती है न कि आकार, प्रकार की, जैसा कि आपने भी लिखा है कि " जिनबिंब के सामने खड़ा हो कर आराधना और भक्ति करने वाला ऐसा शायद ही कोई अज्ञानी हो जो यह सोचता हो कि यह पत्थर ही

भगवान है"। यदि आकार प्रकार की ही आराधना की जाती है तो फिर पत्थर की मूर्ति को ही भगवान मान लेने में कौनसा अज्ञान है ? यहां तो आप आकार प्रकार की आराधना करने में अज्ञान बताते हैं और ऊपर 'आप "बाह्य काल्पनिक जिन-मूर्ति की आराधना करने में क्या पाप है ?" ऐसा लिखते हैं। आपके किसी एक बात पर भी स्थिर न रहने का कारण क्या है सो आप ही जानें। पर इन बातों का पाठकों के दिल पर आपकी विद्वत्ता का क्या असर पड़ेगा यह पाठक ही जानें।

यदि सम्पादक जी उपरोक्त दलीलें पेश करते समय जिन रूप का स्वरूप जैसा कि पं० बनारसी दास जी ने नाटक समय-सार ग्रन्थ में कहा है ध्यान में रखते तो शायद मूर्ति को जिनरूप कहने की भूल न होती।

"जिन सो जीव, जीव सो जिनवर, तन जिन एक न मानो कोई। ता कारण तन की जो स्तुति नियति दृष्टि मिथ्याश्रुति सोई"।

आगे चल कर मूर्ति-पूजा को बालकों का खेल बता

कर जिस चतुराई का परिचय दिया है, वह तो देखते ही बनता है। आप लिखते हैं " कि सब कोई जानता है कि यह भगवान की प्रतिकृति है, मूर्ति के द्वारा हम मूर्तिमान की पूजा करते हैं। जैसे बच्चा जब पहले पहलें पढ़ना लिखना सीखता है तो अभ्यास के लिये पट्टी पर पेन्सिल से अक्षरों की आकृतियां बना दी जाती हैं, उन पर हाथ चला कर जब वह बिना आकृतियों के भी लिखने लगता है तो फिर आकृतियों पर लिखना बन्द करके स्वयं लिखने लगता है। वैसे ही जब तक मनुष्य जिनका सच्चा स्वरूप अपनी अंतर आत्मा में अवतरित नहीं कर सकता, तब तक जिनकी प्रतिकृतियां देख २ कर वह उन से जिनका रूप सीखने की चेष्टा करता है"।

प्रथम तो कोई नहीं जानता है कि यह भगवान की ही प्रतिकृति है। क्योंकि चौबीसों भगवानों के आकार प्रकार एक से तो थे नहीं तब फिर मूर्तियां तो एक सी ही बनाई जाती हैं, जब तक उन पर नाम या चिन्ह विशेष न बना दिया जावे, तब तक वे सब एक भगवान

की हैं। ऋषभनाथ के बैल का चिन्ह निकाल कर उस पर सिंह का चिन्ह बना देने से वह महावीर भगवान की प्रतिकृति हो जाती है। तो फिर ऋषभनाथ और महावीर भगवान दोनों एक से ही रूप रंग आकार प्रकार के थे और शेष बाईस तीर्थङ्कर भी उसी आकार प्रकार रूप रंग के थे। इस प्रकार मूर्ति को भगवान की प्रतिकृति कदापि भी नहीं मानी जा सकती। जिस प्रकार बच्चे भी पेंसिल से "अ" लिखकर उसे "घ" नहीं पढ़ सकते हैं तब फिर यों कहा जा सकता है कि बच्चों जैसी समझ भी इन बन्धुओं में नहीं है।

जब बच्चों को आकृतियों से ज्ञान कराया जाता है तो उसी प्रकार मूर्ति को भी बच्चोंको नग्न आकृति का ज्ञान कराने वाला एक साधन समझिये और यह भी तभी, जब कि बच्चा यह न जानता हो कि नग्न आकृति क्या है पर हमारे ख्याल में तो बच्चा जब तीन या चार साल का होता है तभी से बिना किसी मूर्ति के दिखाये उसके माता पिता उसे नग्न किसे कहते हैं? इस

बात का ज्ञान करा देते हैं। अतएव नग्नावस्था बताने के लिये, मूर्ति बच्चों के लिये भी बिलकुल अनुपयोगी है तब फिर क्या कारण है कि इतने बुद्धिमान और बड़े होने पर भी आप लोग मूर्ति का पीछा न छोड़ कर अपना बालकपन बताये जा रहे हैं। यह तो रही गृहस्थों की बात; पर आजकल दिगंबर साधु मुनि भी तो स्वयं वही भेष रखते हैं जिसकी जानकारी के लिये मूर्ति के समक्ष जाना बताया गया है। तब फिर क्यों? वे मुनिराज मूर्ति के समक्ष जाकर नमस्कार आदि करते हैं। इस से तो इस बात का खंडन होता है कि "मूर्ति एक मात्र दिगम्बर अवस्था का ज्ञान कराने वाली चीज है और उसका यहीं तक उपयोग होता है" किन्तु इस विचार से तो खुलासा झलकता है कि मूर्ति को भगवान ही समझकर उनकी वन्दना पूजा आप करते हैं और ऊपर मूर्ति को भगवान समझ कर पूजा करने वालों को आप अज्ञानी ठहराते हैं। कैसी भयंकर परस्पर विरोध पूर्ण बात?

आगे "अक्षरों की मूर्ति के स्पर्श से ही अंधों को

लिखना पढ़ना सिखाया जाता है अतः मूर्ति कभी बेकार साबित नहीं हो सकती" लिखकर मूर्ति-उपासकों को नेत्र-हीनों की श्रेणी में गिनाने में संपादक जी को जरा भी संकोच न हुआ (देखो परवार बंधु अंक ६ वर्ष २४५५ 'अंधों के हाथमें दर्पण') ऐसे मीठे २ उदाहरण और शब्द अपनी मूर्ति पूजक समाज से कौन सा बदला लेने के उपलक्ष में भेंट कर रहे हैं। जरा खुलासा तो कर दीजिये। आप विद्वान हैं और वह है आपकी भोली समाज, आप जिस तरफ उसे ले जायेंगे वह जायगी। फिर क्यों ठीक रास्ते पर ले जाने के बजाय गलत रास्ते पर जाता देख उसकी दिल्लगी उड़ाते हैं। आप भी तो उन्हीं में से एक हैं। आगे लिखा है—"शायद यह कहा जावे कि उसकी पूजा वगैरह से क्या लाभ? पहले तो जिससे हम कुछ शिक्षा लेना चाहते हैं उसकी विनय करना ही चाहिये। जब हम जिनरूप के भक्त हैं तो जिनरूप का आदर सम्मान करना हमारा कर्तव्य है"।

"शायद यह कहा जाये कि उसकी पूजा करने से

क्या लाभ " ? इस प्रश्न का तो समाधान किये बिना ही आप आगे बढ़ने लगे हैं यह तो शंका आपकी ज्यों की त्यों ही रही। ठीक भी है लाभ होता तो उसका आप दिग्दर्शन कराते; नहीं है इस लिये खामोश रहना ही नीति है। इसी लिये आपने यह न लिखकर "शिक्षक का विनय सम्मान करना चाहिये" लिखा है किन्तु ऐसा करने के पहले आप शिक्षक के गुणावगुण को देख लीजिये कि जिसे आप शिक्षक मान रहे हैं, वह शिक्षक ही है अथवा इसके विपरीत आपके प्राप्त शिक्षण ही पर परदा डालने वाला है। ऐसे शिक्षक को जो आपको पतन की ओर ले जाने वाला है, विनय, भक्ति, पूजन, अर्चन कर क्या लाभ हासिल कर लेंगे ?

जिन भगवान से आप लाभ ले सकते हैं, उनका आराधन वंदन आदि करना ही वास्तव में आपका कर्तव्य है न कि मूर्ति का। जब मूर्ति का वन्दन, अर्चन करते हैं तो फिर भगवान का नहीं करते क्योंकि ऊपर तो आप लिख ही आये हैं " कि कोई अज्ञानी हो जो यह

सोचता हो कि यह मूर्ति ही भगवान है" आपके कथनानुसार ही आप मूर्ति को भगवान नहीं मानते और जब मूर्ति भगवान नहीं है तो उसका वन्दन पूजन कैसा? या तो सिर्फ मूर्ति को पूज कर ही आप समझ लें कि हम ने भगवान पूज लिये हैं। यदि ऐसा समझने वाले को आप अज्ञानी बताते हैं तो फिर ऐसा ही समझा करें कि हम भगवान को न पूजकर मात्र मूर्ति ही पूजते हैं। यदि लोकनिंदा के भय से आप ऐसा भी नहीं कहते तो फिर अब कोई तीसरी बात गढ़ डालिये, जिससे आप की अभीष्ट मूर्ति-पूजा सिद्ध हो जाय।

आगे आपने लिख मारा है कि "जब हम शास्त्रों के सामने आरती कर सकते हैं, स्तुति कर सकते हैं, स्तुति पाठ कर सकते हैं, बिना द्रव्य के पूजा कर सकते हैं आप भी अनेक तरीकों से अपनी भक्ति प्रगट कर सकते हैं, तो मूर्ति के सामने उन क्रियाओं के करने में कौन सा हर्ज है?

यह आप को मालूम है कि शास्त्रों में भगवान के

गुण तथा उनके उपदेशादि लिखे रहते हैं, शास्त्रों को खोलकर उनमें भगवान के गुणों का वर्णन, उनके गुणों की पूजा प्रशंसा आदि की जाती है और इन में द्रव्यादि उपयोग में आने की गुंजायश ही नहीं है। जिन्हें सम्पूर्ण श्रुतों का ज्ञान है उन्हें फिर शास्त्र भी देखने पढ़ने आदि की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, पर देखा जाता है कि सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञान को जानने वाले का अभाव है। इससे इन शास्त्रों को पढ़कर ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस सारे क्रिया कांड में तो बिना मूर्ति के पूजे ही सारा अभीष्ट सिद्ध हो जाता है। तब फिर मूर्ति के आडम्बर में पड़कर द्रव्य तथा आगे बढ़ने के मार्ग को नष्ट कर अपने तथा अन्य भाइयों के जीवन की अमूल्य घड़ियां क्यों बरबाद करते हैं? इस पर भी आप पूछते हैं कि मूर्ति के सामने आरती पूजा आदि करने में क्या हर्ज है? इतना बड़ा हर्ज भी जब आपकी समझ में न आ सका तो फिर अन्य अनेकों छोटे, बड़े, हर्ज क्या समझ में आयेंगे।

आगे चलकर आपको जिनवाणी की पूजा से मूर्ति-पूजा की तुलना करने की धुन सवार हुई और लगे मनमाने राग आलापने। जिस तरह हरा चश्मा लगा लेने के बाद किसी को सारा संसार हरा २ दिखने लगता है। वही दशा आपकी हो गई। इसी लिये जिनवाणी पूजा और मूर्ति-पूजा में आपको कोई भेद नज़र नहीं आ रहा है। कृपया कुछ देर को तो हरा चश्मा निकाल कर प्रत्येक वस्तुको अपने असली रूप रंग में देख लेते तो शायद ऐसा लिखने का आपको साहस भी न करना पड़ता।

जड़वाद का यह चश्मा जब तक चढ़ा रहेगा सही बात भी उसी जड़ रूप में परिणत होकर आपकी दृष्टि तक पहुंच सकेगी अतः कम से कम एक बार तो जड़-वाद का मोह त्याग दीजिये और अध्यात्मवाद या जिनवाणीका अवलम्बन लेकर देखिये यदि उसमें आपको कुछ मिल सके तो रखिये अन्यथा आपकी मूर्ति-पूजा तो किसी ने छिना ही नहीं ली है। फिर आजन्म वही करते

रहना जो जन्म से करते आ रहे हैं। ऐसा करने से आप को जिनवाणी और मूर्ति में कितना भेद है मालूम हो जायगा।

आगे आपने लिखा है "यदि क्षुल्लक जी ब्र० गुलाबचंद जी अपने को कुन्दकुन्द का सच्चा अनुयायी समझते हैं और उन्हीं के कथनानुसार अचेतन जिन प्रतिमा और अचेतन जिनबिंब की पूजा नहीं करते तो उन्हें चाहिये कि अपने अचेतन चैत्यालयों का भी मोह छोड़ कर चेतन चैत्यालयों की पूजा करने का उपदेश दें, इससे वे सच्चे मूर्ति-पूजा विरोधी तो गिने ही जायेंगे साथ ही इसका लाभ उन्हें भी हुए बिना न रहेगा। अतः यदि तारण समाजको मूर्ति-पूजा का विरोध ही इष्ट है तो उसे मल्हारगढ़ की नशियां तथा अन्य चैत्यगृहों में ताले लगाकर ज्ञानमयी चैत्यगृहों की घर बैठ कर उपासना करना चाहिये। आधा तीतर और आधा बटेर का स्वांग अच्छा नहीं लगता। आशा है तारण समाज के समझदार भाई समझदारी से काम लेंगे और मूर्ति-पूजकों की

भावनाओं को कुचलने से अपने गुरु महाराज को रोकेंगे। इसी में सब का कल्याण है।"

ऐसा अंतिम प्रकरण लिख कर संपादक जी महोदय ने तो अपनी बुद्धि का दिवाला ही निकाल दिया है।

सम्पादक जी को हम बता देना चाहते हैं कि तारण पंथी लोग तो कुन्दकुन्दआचार्य के आदेश मुताबिक ही अचेतन जिन प्रतिमा या जिनबिंब नहीं पूजते हैं और आप भी कुन्दकुन्दआचार्य के अनुयायी हैं इसी लिये हमें अपने भाइयों को पथ-भ्रष्ट देख कर दया आ जाती है और कहना पड़ता है कि आप भी उसी परम पावन अध्यात्मवाद के सिद्धान्तों का सहारा लेकर चलें तो अच्छा है। हम लोग आपकी अचेतन मूर्ति की तरह अचेतन चैत्यालयों की पूजा नहीं करते। चैत्यालय भवन तो समाज के एकत्र होने का स्थान और जिनवाणी का संग्रहालय हैं। वहां पर सब लोग जाकर, अचेतन मूर्ति की तरह ईंट पत्थर चूना, दरवाज़े आदि की पूजन वंदना नहीं करते। प्रत्युत उस स्थान पर एकत्र होकर

सब लोग अध्यात्म-वार्ता करते हैं। शास्त्रों का पठन मनन करते हैं। सत्संग होता है, जिनेन्द्र गुणगान आदि सम्मिलित रूप में होता है। यह सब काम घर भी बड़े मज़े में हो सकते हैं परन्तु सब लोगों सहित सम्मिलित रूप में नहीं हो सकते।

लोगों के सम्मेलन आदि के लिये ही ऐसे स्थान निश्चित किये जाते हैं। जिस तरह प्रत्येक गांव की समाज का इकट्ठे होकर भक्ति आदि करने का स्थान उस गांव का चैत्यालय होता है। उसी तरह एक प्रदेश अथवा देश के लोगों के इकट्ठे होकर भक्ति आदि करने का स्थान मल्हारगढ़ आदि माने गये हैं ऐसे स्थान तीर्थ पर ही बनाये जाते हैं। आधा तीतर आधा बटेर का स्वांग तो आप लोग रचते हैं जो मानते तो हैं कि भगवान तो मोक्ष में विराजमान हैं उन्हें संसारी कार्यों से कोई प्रयोजन नहीं, क्षुधा तृषा उनकी नष्ट हो गई है; पर कराते हैं भगवान को मोक्ष से बुलाकर उन्हें भोजन, उन्हें नहलाते हैं, कद्दू का पेट फाड़कर उनका जन्म

कराते हैं, उन्हें पलना में झुलाते हैं और भी न जाने क्या करते हैं। यह क्या है आधा तीतर आधा बटेर वाला स्वांग नहीं है क्या?

बन्धुओ! ऐसी मूर्ति से अथवा पूजा से आपका कल्याण नहीं होगा आप इन पंडितों की लंबी चौड़ी गप शप में न पड़े रहें आपतो बुद्धि से विचार करें और तर्क की कसौटी पर सिद्धान्तों को कस कर देख लें, सोने के धोखे पीतल टिकाने वालों के जाल में न फंसे रहें ज़माना आजकल विकाशवाद का है। यदि यही बेढङ्गी रफ्तार आप चले जायेंगे तो सन्देह नहीं कि आप मोक्ष-मार्ग की सीढ़ी चलने के बजाय एक भयंकर खाई में गिर कर चकनाचूर हो जायेंगे, फिर संभालने वाला कोई न होगा।

अतएव निष्पक्ष दृष्टिसे जैनधर्म क्या कहता है यह विचारिये, उसपर अमल कीजिये। ये पंडित लोग तो आजकल उन्हीं भट्टारकों की गद्दी पर बैठे २ अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं **सावधान** होकर इनसे व्यवहार करें तो उत्तम होगा।

— समाप्त —

अनावश्यक-

दिगम्बर जैन मूर्ति-पूजा

- के -

विषय में

पठनीय

दो ग्रन्थ

१

अनावश्यक-

दि० जैन मूर्ति-पूजा

२

तारणपंथ समर्थन

प्रथम भाग